प्राचीन आपराधिक न्याय प्रणाली में न्यायपालिका की स्वतंत्रता

शशि कांत दुबे
*शोधार्थी, एकेएस विश्वविद्यालय, सतना, मध्य प्रदेश (**भारत**)*

***शोध-सार*—प्राचीन भारतीय आपराधिक न्याय प्रणाली में न्यायपालिका की स्वतंत्रता एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है, जहाँ न्यायाधीशों को धर्मशास्त्रों द्वारा स्थापित नैतिक एवं विधिक नियमों के आधार पर निर्णय लेने का अधिकार प्राप्त था। वेद, धर्मसूत्र, स्मृतिगत ग्रंथ एवं अर्थशास्त्र जैसे प्राचीन ग्रंथों में स्पष्ट रूप से न्यायाधीशों की निष्पक्षता, स्वतंत्रता एवं गुट-पक्षपात-रहित निर्णय को सुनिश्चित करने वाले नियमों का उल्लेख मिलता है। न्यायाधीशों पर किसी भी बाहरी प्रभाव—चाहे राजा का हो या समाज का—स्वीकार नहीं था; फैसले सार्वजनिक रूप से सुनाए जाते थे और उन्हें अन्य न्यायाधीशों की उपस्थिति में लिया जाता था, जिससे निर्णय-प्रक्रिया में पारदर्शिता बनी रहती थी। इस स्वतंत्रता ने सामाजिक न्याय की अवधारणा को मजबूत किया और शासन की शक्ति को भी नियंत्रित किया। इस पेपर में विभिन्न युगों—वैदिक, उत्तरवैदिक, मौर्य, गुप्त एवं धर्मशास्त्रीय प्रणाली—में न्यायपालिका की स्वरूप, स्वरूप एवं स्वतंत्रता की संरचना की समीक्षा की गई है। तुलनात्मक दृष्टि से यह अध्ययन आधुनिक न्यायपालिका की भूमिका और समकालीन लोकतांत्रिक सिद्धांतों से संदर्भित है।**

***सूचक शब्द (कीवर्ड्स)*—प्राचीन न्यायपालिका; आपराधिक न्याय; न्यायपालिका की स्वतंत्रता; धर्मशास्त्र; निष्पक्ष निर्णय।**

I. प्रस्तावना

भारतवर्ष की विधिक परंपरा अत्यंत प्राचीन, समृद्ध एवं गहन रही है। इसकी न्यायिक प्रणाली की जड़ें वैदिक काल, धर्मशास्त्र, स्मृतियों, अर्थशास्त्र, और नीतिशास्त्र में निहित रही हैं[1]। भारतीय संस्कृति में 'न्याय' को केवल कानूनी अवधारणा न मानकर, एक नैतिक मूल्य, एक धर्म और जीवन के आधारभूत सिद्धांत के रूप में स्वीकारा गया है[2]। "धर्मो रक्षति रक्षितः" की भावना के तहत यह व्यवस्था व्यक्ति, समाज एवं राज्य तीनों के संतुलन को बनाए रखने का कार्य करती थी। प्राचीन काल में न्याय का उद्देश्य केवल अपराधी को दंडित करना नहीं था, बल्कि अपराधी, पीड़ित और समाज तीनों के मध्य संतुलन और पुनर्स्थापन करना था[3]।

इस प्रणाली की सबसे प्रमुख विशेषता यह थी कि न्यायिक प्रक्रिया को राजा के अधीन माना गया, किंतु राजा को भी 'राजधर्म' और 'श्रुति-स्मृति' के अधीन रहकर कार्य करना होता था[4]। यही स्थिति न्यायपालिका की स्वतंत्रता की मूल भावना को दर्शाती है। प्राचीन भारत की न्याय प्रणाली में न्यायपालिका की स्वतंत्रता एक विशिष्ट स्वरूप में दिखाई देती है, जहाँ न्यायाधीशों को राजनैतिक प्रभाव से अपेक्षाकृत स्वतंत्र माना गया[5]। न्यायाधीशों की नियुक्ति, उनके कर्तव्य, नैतिकता, निष्पक्षता तथा दंड के निर्धारण की प्रक्रिया से यह स्पष्ट होता है कि न्याय को धर्म और नैतिकता के आधार पर सर्वोच्च स्थान प्राप्त था।

मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, कौटिल्य आदि विधिशास्त्रकारों ने न्यायाधीशों की निष्पक्षता, योग्यता और उत्तरदायित्व की विस्तृत चर्चा की है[6]। उनके अनुसार, यदि राजा स्वयं न्याय नहीं कर सकता तो उसे योग्य और निःस्वार्थ भाव से कार्य करने वाले विद्वानों को यह कार्य सौंपना चाहिए। मौर्य काल में चाणक्य का "अर्थशास्त्र" और गुप्त काल के अनेक ग्रंथ न्यायिक स्वतंत्रता के सिद्धांत को और अधिक स्पष्ट करते हैं[7]। इन ग्रंथों में उल्लेख है कि न्यायाधीशों को बिना किसी भय या पक्षपात के न्याय करना चाहिए। यहाँ तक कि यदि राजा भी न्याय के विरुद्ध कोई आदेश देता है, तो न्यायपालिका को उस आदेश की अनदेखी करने का अधिकार प्राप्त था[8]। यह स्थिति एक स्वतंत्र और नैतिक रूप से सशक्त न्यायपालिका का संकेत देती है।

---

[1] यू. एन. घोषाल, भारतीय राजनीतिक विचारों का इतिहास, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1959, पृष्ठ 410.

[2] रोमिला थापर, प्रारंभिक भारत: उत्पत्ति से 1300 ई. तक, पेंगुइन बुक्स, 2002, पृ. 332.

[3] कौटिल्य, अर्थशास्त्र, अनुवाद। आर. शमाशास्त्री, 1915, पुस्तक 1, अध्याय 5.

[4] पी.वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, खंड 3, भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पुणे, पृष्ठ 40.

[5] एम. रामा जोइस, भारत का कानूनी और संवैधानिक इतिहास, खंड I, यूनिवर्सल लॉ पब्लिशिंग, 2016, पृष्ठ 72.

[6] मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, नारदस्मृति

[7] कौटिल्य, अर्थशास्त्र, पुस्तक III, अध्याय 1।

[8] डी. आर. भंडारकर, प्राचीन भारतीय राजनीति के कुछ पहलू, बनारस हिंदू विश्वविद्यालय प्रेस, 1927, पृष्ठ 92.

हालाँकि न्यायिक स्वतंत्रता का स्वरूप आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था से भिन्न था, परंतु प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण में भी यह सिद्धांत निहित था कि न्याय 'राजा की इच्छा' नहीं, बल्कि 'धर्म' और 'न्याय' के आधार पर होना चाहिए[9]। अतः प्राचीन काल की न्यायपालिका एक नैतिक स्वायत्तता से युक्त व्यवस्था थी, जो आधुनिक काल की स्वतंत्र न्यायपालिका के लिए प्रेरणा स्रोत बन सकती है।

II. समस्या कथन

- आधुनिक विधिक विश्लेषण में प्राचीन न्यायपालिका की स्वतंत्रता की अवधारणा की उपेक्षा दीखती है।
- अंग्रेजी-विधिक ढाँचे की प्रधानता ने न्यायपालिका की धार्मिक-नैतिक आधारित आजादी को कम कर दिया है।
- प्राचीन ग्रंथों—जैसे बृहस्पति स्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति — में वर्णित न्यायाधीशों की गुट-रहित, सार्वजनिक एवं आध्यात्मिक रूप से समर्पित प्रक्रिया आधुनिक कानूनी अध्ययन में समुचित रूप से समाहित नहीं है।
- अतः यह शोध जरूरी है ताकि न्यायपालिका की आदर्श स्वतंत्रता की दृष्टि को पुनः स्थापित किया जा सके और समझा जा सके कि कैसे आधुनिक विधान में इसका समावेश संभव है।

III. अध्ययन का उद्देश्य

- न्यायाधीशों की चयन प्रक्रिया, बहु-सदस्यीय निर्णय मंडल, सार्वजनिक सुनवाई आदि संरचनाओं का व्यवस्थित विश्लेषण।
- धर्मशास्त्रों द्वारा निर्धारित न्यायाधीशों के नैतिक एवं विधिक कर्तव्यों की खोज।
- विभिन्न कालखंडों में न्यायपालिका की स्वतंत्रता की संरचना एवं प्रथाओं का तुलनात्मक अध्ययन करना।
- इस स्वतंत्रता के आधुनिक विधिक संस्थानों—जैसे संवैधानिक न्यायपालिका, PIL, लोक अदालतें—में संभावित पुनर्निवेश की रूपरेखा तैयार करना।

IV. शोध प्रश्न

1. प्राचीन भारत में न्यायपालिका की स्वतंत्रता की अवधारणा ग्रंथों में कैसे परिभाषित की गई थी?
2. न्यायाधीशों को किस प्रकार का नैतिक एवं विधिक प्रशिक्षण एवं चयन प्राप्त होता था?
3. निर्णय प्रक्रिया में सार्वजनिक सुनवाई और बहु-निर्णय मंडलों की भूमिका क्या थी?
4. आधुनिक भारतीय न्यायपालिका में प्राचीन स्वतंत्रता-प्रथाओं का पुनरुत्थान कितना संभव है?

V. शोध का महत्व

प्राचीन भारतीय आपराधिक न्याय प्रणाली की समीक्षा वर्तमान भारतीय विधिक ढांचे को समझने और उसमें सुधार लाने के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह शोध न केवल अतीत की न्याय व्यवस्था को उजागर करता है, बल्कि इस बात पर भी प्रकाश डालता है कि किस प्रकार न्यायपालिका की स्वतंत्रता का विचार हमारी परंपरा में निहित था और वह किस रूप में विकसित हुआ।

वर्तमान में न्यायपालिका की स्वतंत्रता लोकतांत्रिक व्यवस्था की रीढ़ मानी जाती है, किंतु इसके ऐतिहासिक और सांस्कृतिक स्रोतों की गहराई से समीक्षा कम ही की गई है। प्राचीन भारत में—विशेषकर मौर्य, गुप्त तथा वैदिक युग में—राजा, सभाओं, और न्यायाधीशों की भूमिकाओं से संबंधित उपलब्ध ग्रंथों, जैसे मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र आदि, हमें यह संकेत देते हैं कि न्याय का निष्पक्ष और स्वतंत्र रूप देने की अवधारणा कोई आधुनिक अवधारणा नहीं है। यह शोध इस बात की पुष्टि करने का प्रयास करता है कि भारतीय परंपरा में सत्ता के विभिन्न अंगों के बीच संतुलन तथा न्याय की पवित्रता को बनाए रखने की प्रवृत्ति विद्यमान थी।

इस शोध का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि यह प्राचीन दार्शनिक मूल्यों—जैसे धर्म, ऋत और सत्य—को वर्तमान विधिक तंत्र से जोड़ने का सेतु बनता है। यदि हम यह समझ सकें कि हमारे पूर्वजों ने किस प्रकार से नैतिकता और तटस्थता को न्याय का आधार बनाया था, तो यह वर्तमान न्यायिक प्रणाली में नैतिक सुदृढ़ता लाने की दिशा में मार्गदर्शक सिद्ध हो सकता है।

इसके अतिरिक्त, यह अध्ययन ग्रामीण भारत में न्याय की पहुँच, स्वशासन की अवधारणा, पंचायतों की भूमिका, तथा 'लोक अदालतों' की ऐतिहासिक जड़ों को भी उजागर करता है। वर्तमान समय में जब न्यायिक प्रक्रिया में विलंब और खर्च एक बड़ी चुनौती बन गई है, तब यह शोध वैकल्पिक न्याय प्रणाली की ओर लौटने की संभावनाओं को रेखांकित करता है।

VI. साहित्य समीक्षा

भिष्मपति स्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति जैसे धर्मशास्त्रों ने न्यायाधीशों की नैतिकता, निष्पक्षता और सत्य-प्राधानता की

---

[9] बी.के. सरकार, द हिंदू थ्योरी ऑफ स्टेट, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1922, पृष्ठ 198.

आवश्यकता पर बल दिया है; जहाँ न्यायालय में सुनवाई सार्वजनिक होती थी, और निजी संपर्क व निष्पक्षता का उल्लंघन मना था। ब्राह्मण-विधिज्ञ जन और राजा की उपस्थिति में न्याय मंडल में निर्णय लिया जाता था, और न्यायाधीशों को उच्च धार्मिक तथा विधिक योग्यता अपेक्षित थी । अर्थशास्त्र (कौटिल्य) में तीन-न्यायाधीश प्रणालियों का उल्लेख है, जो आधुनिक एकल न्यायाधीश प्रणाली से अधिक निष्पक्ष मानी जाती थी।

VII. शोध पद्धति

- प्राथमिक स्रोत: बृहस्पति एवं शुक्र-नितिसारा विचार (बृहस्पति स्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति) की प्रतिलिपियाँ।
- माध्यमिक स्रोत: विविध ऐतिहासिक एवं विधिशास्त्र साहित्य, जैसे अर्थशास्त्र – चाणक्य (कौटिल्य) मनुस्मृति – मनु, याज्ञवल्क्य स्मृति – याज्ञवल्क्य, नारद स्मृति – नारद।
- तुलनात्मक दृष्टिकोण अपनाकर न्यायपालिका की स्वतंत्रता की संरचनात्मक एवं प्रक्रियात्मक विशेषताओं की तुलना आधुनिक भारतीय न्यायपालिका से की जाएगी।

VIII. विश्लेषण एवं व्याख्या

प्राचीन भारत की आपराधिक न्याय प्रणाली एक सुव्यवस्थित एवं सिद्धांतों पर आधारित संरचना थी, जिसमें न्यायपालिका की स्वतंत्रता को विशेष महत्त्व दिया गया था। धर्म, सत्य, ऋत और नीति जैसे मूल्यों के आलोक में भारतीय समाज ने न केवल अपराधों की परिभाषा की, बल्कि उनके निवारण और दंड विधान की भी स्पष्ट व्यवस्था की। यह प्रणाली वैदिक काल से लेकर मध्यकाल तक सतत विकसित होती रही और प्रत्येक युग की सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक आवश्यकताओं के अनुरूप इसमें परिवर्तन होते रहे।

8.1.वैदिक कालीन न्याय व्यवस्था

वैदिक काल में राजा को धर्म का रक्षक माना गया था, परंतु न्यायिक कार्यों के निष्पादन में वह पूर्णत: स्वतंत्र नहीं था। उसके निर्णय वेद, स्मृति, परंपरा और आचार्य द्वारा निर्धारित सिद्धांतों के अधीन होते थे। 'धर्म' सर्वोपरि था, और न्यायपालिका का कार्य धर्मानुसार निर्णय देना था। ऋग्वेद और अथर्ववेद में न्यायिक प्रक्रियाओं का उल्लेख मिलता है, जहाँ सभा (जनप्रतिनिधि संस्था) और समिति (नीतिनिर्माता संस्था) का भी न्यायिक कार्यों में योगदान था।[10] इन संस्थाओं की स्वतंत्रता का संकेत इस बात से मिलता है कि राजा को भी उनके निर्णय मानने पड़ते थे। वैदिक ऋषियों ने 'सत्य' को न्याय का मूल माना। न्यायाधीशों का चयन गुण, ज्ञान और निष्पक्षता के आधार पर होता था। इसलिए न्यायपालिका वैदिक समाज में धार्मिक व नैतिक नियंत्रणों के अंतर्गत कार्य करती थी, परंतु वह कार्यपालिका से अपेक्षाकृत स्वतंत्र थी।[11]

8.2. उत्तरवैदिक एवं मौर्यकालीन न्याय व्यवस्था

उत्तरवैदिक काल में न्याय प्रणाली अधिक संगठित हुई। इस काल में न्यायालयों की संस्थाएँ सुदृढ़ हुई और विशिष्ट न्यायाधीशों की नियुक्तियाँ होने लगीं। न्याय से संबंधित निर्णय अब व्यक्तिगत नहीं रहे, अपितु वे विधि और धर्मशास्त्रों पर आधारित होने लगे। धर्मसूत्रों, गृह्यसूत्रों तथा शास्त्रों ने न्यायिक सिद्धांतों को अधिक स्पष्ट एवं व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया। न्यायाधीशों के लिए 'न्यायधर्म' का पालन करना अनिवार्य था, जिससे उनका कार्य निष्पक्ष, सत्यनिष्ठ और निर्भीक बन सके।[12]

मौर्यकाल में चंद्रगुप्त मौर्य तथा विशेष रूप से सम्राट अशोक के शासनकाल में न्यायपालिका का क्षेत्र और प्रभाव दोनों विस्तारित हुए। इस काल में `धम्ममहामात्र` नामक संस्था की स्थापना की गई, जो न केवल धार्मिक एवं नैतिक दृष्टिकोण से कार्य करती थी, बल्कि जनहित से जुड़े न्यायिक कार्य भी देखती थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में न्यायिक प्रणाली का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। उसमें स्पष्ट किया गया है कि न्यायालयों को राजा के व्यक्तिगत हितों से परे रहकर, स्वतंत्र रूप से कार्य करना चाहिए और उनका उद्देश्य केवल सत्य की स्थापना होना चाहिए।[13] यद्यपि यह सैद्धांतिक स्वतंत्रता थी, फिर भी व्यवहार में न्यायपालिका पर कार्यपालिका के प्रभाव के कुछ प्रमाण प्राप्त होते हैं, विशेष रूप से उच्च अधिकारियों की नियुक्ति तथा दंड-निर्णय में राजा की निर्णायक भूमिका के रूप में।[14]

8.3. गुप्तकालीन न्याय प्रणाली

गुप्त युग को भारतीय संस्कृति का स्वर्णकाल कहा जाता है। इस काल में न केवल कला, साहित्य और विज्ञान का विकास हुआ, अपितु न्याय व्यवस्था भी अधिक परिष्कृत और संगठित रूप में सामने आई। गुप्त शासकों के काल में धर्मशास्त्रों एवं न्यायसूत्रों ने

---

[10] *Rigveda* (10.117) और *Atharvaveda* (12.5)

[11] पांडुरंग वामन काने, *धर्मशास्त्र का इतिहास* (Vol. I), बी. जी. पब्लिकेशन, 1930, पृष्ठ 158-162।

[12] कृष्णस्वामी अय्यर, *भारतीय धर्मशास्त्र और सामाजिक व्यवस्था*, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, 2002, पृष्ठ 112–115.

[13] कौटिल्य, *अर्थशास्त्र*, अनुवाद: आर. शमशास्त्री, विश्वभारती प्रेस, 1999, अध्याय 3, श्लोक 1–5.

[14] रोमिला थापर, *अशोक और मौर्य साम्राज्य*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2006, पृष्ठ 89–91.

न्यायिक प्रक्रियाओं को एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया। राजा यद्यपि सर्वोच्च न्यायिक प्राधिकारी था, किंतु न्याय व्यवस्था का विकेंद्रीकरण स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। स्थानीय स्तर पर ग्राम न्यायालय, नगर न्यायालय, तथा व्यापारी गिल्ड द्वारा संचालित स्वतंत्र न्यायिक संस्थाएं कार्यरत थीं।[15]

गुप्त सम्राटों ने धार्मिक संस्थाओं, मंदिरों एवं मठों को न्यायिक अधिकार प्रदान किए, जिससे सामाजिक-धार्मिक संस्थाएं स्थानीय विवादों के समाधान हेतु अधिकृत हुईं। इस प्रणाली ने एक ओर विकेंद्रीकरण को बढ़ावा दिया, वहीं दूसरी ओर न्यायपालिका को स्थानीय स्तर पर स्वायत्तता प्रदान की।[16] कौटिल्य के सप्तांग सिद्धांत में “दंड” को राज्य के सात प्रमुख अंगों में से एक माना गया है, जो यह संकेत करता है कि राज्य को विधि-व्यवस्था बनाए रखने हेतु दंड देने का अधिकार स्वतंत्र रूप से प्राप्त होना चाहिए।[17]

8.5.मध्यकालीन भारत: न्यायपालिका की स्वतंत्रता का क्षरण

मध्यकाल में मुस्लिम शासन के आगमन के साथ न्याय प्रणाली में बड़े परिवर्तन आए। न्यायिक व्यवस्था में शरिया आधारित कानूनों का प्रचलन हुआ[18]। न्यायपालिका पर शासक की धार्मिक नीतियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। क़ाज़ियों और मुफ़्तियों की नियुक्ति राज्य करता था, और वे इस्लामी विधि के अनुसार निर्णय देते थे[19]।

हालांकि अकबर जैसे शासकों ने न्याय में धार्मिक सहिष्णुता का पालन किया[20], फिर भी न्यायपालिका की स्वतंत्रता सीमित रही। न्यायाधीश स्वतंत्र रूप से कार्य कर सकें, इसके लिए कोई विशेष संस्थागत उपाय नहीं थे[21]। न्यायिक निर्णयों पर शाही आदेश प्रभावी रहते थे, जिससे निष्पक्षता प्रभावित होती थी। हिन्दू समुदाय के आंतरिक मामलों में न्याय पंचायतों की भूमिका बनी रही, जो न्याय की एक समानांतर प्रणाली के रूप में कार्य करती थीं, किंतु इनकी वैधानिक स्वतंत्रता सीमित थी[22]।

IX. न्यायिक प्रक्रिया और दंड नीति का तुलनात्मक विश्लेषण

प्राचीन भारत में न्यायिक प्रक्रिया सामान्यतः मौखिक साक्ष्य, शपथ, परीक्षण और गवाहों पर आधारित थी।[23] अपराधों के लिए दंड निर्धारण धर्मशास्त्रों में उल्लिखित वर्गीकरणों के अनुसार होता था।[24] राजा और न्यायाधीश ‘मित’ (संयमित) दंड के सिद्धांत का पालन करते थे, अर्थात दंड न तो अत्यधिक कठोर हो, न ही अत्यधिक उदार।[25]

न्यायपालिका के स्वतंत्र कार्य करने के उदाहरणों में न्यायिक दृष्टांतों का प्रयोग, अपील की प्रक्रिया और पुनरावलोकन की व्यवस्था देखी जा सकती है।[26] हालाँकि इन सभी प्रक्रियाओं की अंतिम स्वीकृति राजा के पास होती थी, परंतु न्यायाधीशों को निष्पक्षता बनाए रखने की स्वतंत्रता दी गई थी।[27]

X. न्यायिक स्वतंत्रता के सामाजिक प्रभाव

न्यायपालिका की स्वतंत्रता का सामाजिक जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव था। जहाँ यह स्वतंत्रता थी, वहाँ समाज में शांति, स्थायित्व और विश्वास का माहौल था। गाँवों की पंचायतें लोक न्याय के आधार पर कार्य करती थीं और समाज द्वारा सम्मानित न्यायाधीशों के निर्णयों को अंतिम माना जाता था। न्याय का यह लोक रूप, लोक अदालतों के रूप में आज भी प्रासंगिक है।[28]

प्राचीन भारत की न्यायपालिका की स्वतंत्रता ने समाज में कानूनी चेतना का विकास किया। जनता को यह विश्वास था कि सत्य की जीत होगी और धर्म के अनुसार निर्णय दिया जाएगा।[29]

---

[15] R.S. Sharma, *India's Ancient Past*, Oxford University Press, 2005, p. 256.

[16] यू.एन. घोषाल, भारतीय राजनीतिक विचारों का इतिहास, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1959, पृष्ठ 410.

[17] कौटिल्य, अर्थशास्त्र, आर. शमाशास्त्री द्वारा अनुवादित, 1915, पुस्तक 1, अध्याय 5।

[18] मोहम्मद हबीब एवं खलीक अहमद नियाज़ी (संपा.), *भारत का व्यापक इतिहास, खंड V*, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1970, पृ. 84–85.

[19] मुशीरुल हसन, *एक विभाजित राष्ट्र की विरासत: स्वतंत्रता के बाद से भारत के मुसलमान*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1997, पृ. 31.

[20] इरफान हबीब, *अकबर और उनका भारत*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1997, पृ. 120.

[21] सतीश चंद्र, *मध्यकालीन भारत: सल्तनत से मुगलों तक,*भाग-1, हर-आनंद पब्लिकेशन्स, 1997, पृ. 223.

[22] रोमिला थापर, *सांस्कृतिक अतीत: प्रारंभिक भारतीय इतिहास पर निबंध*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2000, पृ. 532.

[23] कौटिल्य, *अर्थशास्त्र*, खंड III, अध्याय 1

[24] *मनुस्मृति*, अध्याय VIII, श्लोक 120–130

[25] पंडुरंग वामन काणे, *धर्मशास्त्र का इतिहास*, खंड III, पृष्ठ 32–34।

[26] नीलकंठ शास्त्री, *प्राचीन भारत का न्याय तंत्र*, भारतीय विद्या भवन, 1955, पृष्ठ 87|

[27] राम शरण शर्मा, *प्राचीन भारत में राज्य और न्याय व्यवस्था*, पेंग्विन प्रकाशन, 1991, पृष्ठ 144।

[28] रामशरण शर्मा, *प्राचीन भारत में सामाजिक और आर्थिक संरचना*, दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2011, पृ. 154।

[29] लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, *भारतीय विधिक परंपराएँ*, वाराणसी: चौखम्बा ओरिएंटल, 2005, पृ. 92।

XI. आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिकता

प्राचीन भारत की न्यायिक स्वतंत्रता की संकल्पना भारतीय संविधान की आत्मा में आज भी जीवित है। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 50 राज्य को कार्यपालिका से न्यायपालिका को पृथक रखने का निर्देश देता है, जो न्यायिक स्वतंत्रता का मूल तत्व है[30]। लोक अदालतें, न्याय पंचायतें और न्यायिक दृष्टांतों की परंपरा भी प्राचीन भारत से ही प्रेरित है[31]।

आज जब न्यायपालिका की स्वतंत्रता को लेकर बहस होती है, तब प्राचीन भारतीय मॉडल से यह सीखा जा सकता है कि एक आदर्श न्याय प्रणाली में धर्म, नैतिकता, और जनता की सहभागिता कितनी महत्त्वपूर्ण होती है[32]।

XII. निष्कर्ष

प्राचीन भारतीय आपराधिक न्याय प्रणाली में न्यायपालिका की स्वतंत्रता एक महत्वपूर्ण अवधारणा रही है, जिसने भारतीय विधिक परंपरा को नैतिकता, धर्म और लोकहित से जोड़ा। इस शोध से स्पष्ट होता है कि वैदिक काल से मध्यकाल तक न्यायपालिका किसी न किसी रूप में स्वतंत्र और शासक वर्ग से पृथक थी। राजा भले ही अंतिम अपील का मंच रहा हो, लेकिन उसे भी धर्मशास्त्र और सभासदों की सम्मति से निर्णय करना पड़ता था।

पंचायत, जनसुनवाई, सभा और परिषद की संस्थाएं यह दर्शाती हैं कि न्याय सत्ता का उपकरण न होकर सत्य और धर्म पर आधारित प्रक्रिया थी। धर्मसूत्र, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि में न्यायाधीश की निष्पक्षता और योग्यता पर बल दिया गया है।समकालीन भारत में, जहां विधि के शासन को सर्वोच्च माना जाता है, इन प्राचीन न्यायिक मूल्यों की पुनर्व्याख्या आवश्यक हो जाती है।

यह शोध दर्शाता है कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता कोई नवीन विचार नहीं, बल्कि भारतीय परंपरा का अभिन्न हिस्सा है। अतः इसे संरक्षित करने के लिए प्राचीन विधि-दर्शन से प्रेरणा लेकर समकालीन प्रणाली को अधिक उत्तरदायी और नैतिक बनाया जा सकता है।

XIII. सुझाव

1. प्राचीन विधिक ग्रंथों की व्याख्या को आधुनिक न्यायिक अध्ययन से जोड़ा जाए।
2. वर्तमान न्याय व्यवस्था में नैतिकता और धर्मनिष्ठता के तत्वों को सुदृढ़ किया जाए।
3. प्राचीन न्यायिक प्रक्रियाओं से शिक्षा लेकर ग्राम न्यायालय और लोक अदालतों को और प्रभावी बनाया जा सकता है।
4. न्यायपालिका की ऐतिहासिक जड़ों पर गहन शोध कर विधि छात्रों के लिए पाठ्यक्रम विकसित किए जाएं।

संदर्भ सूची

[1] मनुस्मृति – गंगानाथ झा का अनुवाद
[2] कौटिल्य का अर्थशास्त्र – आर. शमाशास्त्री (अंग्रेज़ी अनुवाद)
[3] याज्ञवल्क्य स्मृति – पी. वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, खंड द्वितीय
[4] भंडारकर, डी.आर. – प्राचीन भारतीय संस्कृति के कुछ पहलू
[5] शर्मा, आर.एस. – प्राचीन भारत का अतीत
[6] बैशम, ए.एल. – वह भारत जो था
[7] रोमिला थापर – प्रारंभिक भारत: उत्पत्ति से ईस्वी 1300 तक
[8] के.टी. शाह – प्राचीन भारत की विधिक प्रणाली
[9] मजूमदार, आर.सी. – प्राचीन भारत
[10] काणे, पी.वी. – धर्मशास्त्र का इतिहास, खंड I

---

[30] भारत का संविधान, अनुच्छेद 50|

[31] सिंह, रवीन्द्र कुमार, *प्राचीन भारत की न्याय प्रणाली*, प्रकाशन संस्था, वाराणसी, 2012, पृ. 89।

[32] शर्मा, एम.पी., *भारतीय संविधान का दार्शनिक आधार*, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2008, पृ. 157।